एक आदमी के ज़िद की आंतरिक रिपोर्ट

प्रफुल्ल कोलख्यान

हाल के जनविरोधी विकास से कई पारंपरिक ढाँचे टूटे हैं, अयोध्या में ही नहीं उसके बाहर भी। इस तोड़ से भारत के सामाजिक यथार्थ में नये मोड़ और ममोड़ उठ रहे हैं। स्वभावत: साहित्य की पारंपरिक विधाओं में भी एक नये तरह का मोड़ और ममोड़ आया है। दूधनाथ सिंह के नये उपन्यास 'आख़िरी कलाम' में भी यह देखा जा सकता है। इन मोड़ों और ममोड़ों का जुड़ाव विभिन्न स्तरों पर प्रयोगशील संपृक्ति-प्रबंध (Connectivity Management) से भी है। कैसी विडंबना है कि लोगों के बीच के स्वाभाविक संपर्क को विच्छिन्न करनेवाली शक्तियाँ नदियों और बाजार की प्राणवाही तंत्रिकाओं के संपृक्ति-प्रबंध के लिए नित नये प्रयोग करती है। ऐसे में संपृक्ति-प्रबंध के बढ़ते जाने के साथ ही लोगों के सामाजिक संबंधों के वियोजित होते जाने का खतरा अगर बढ़ता जाता है तो क्या अचरज! आज शुद्ध इतिहास को नाकाफी बताकर उसे मिथ से जोड़ा जा रहा है– जन्म ले रहा है 'मिथहास'। 'मिथहास' के सोहर से मुग्ध रचनाकार 'मिथन्यास' की परियोजना को आगे बढ़ा रहे हैं। 'मिथहास' और 'मिथन्यास' में उलझते समाज के संदर्भ में 'इतिन्यास' बन रहा है। दूधनाथ सिंह का नया उपन्यास 'आख़िरी कलाम' भारतीय यथार्थ की समकालीन सामाजिक-राजनीतिक संवेदना से बनी धार्मिक, पौराणिक, मिथकीय और ऐतिहासिक जटिलताओं को रचनात्मक आयाम देने की कोशिश में अपना विन्यास प्राप्त करता चलता है, बनता चलता है 'इतिन्यास'। 'आख़िरी कलाम' इस 'इतिन्यास' के अर्थ में इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह समकालीन समाज के कँटीले पदार्थ और यथार्थ के सांस्कृतिक संदर्भ के सहयोजन-वियोजन को रचना की परित्यक्त भूमि मानकर नहीं चलता है। इस

उपन्यास का अतीत-बोध उसके इतिहास-बोध को एक अलग रचनात्मक कोण प्रदान करता है। इस उपन्यास में अतीत समकालीन है। अतीत यहाँ इसलिए समकालीन बन पाया है कि वह रचना की मुख्य भूमि के रूप में नहीं, वर्तमान की रचनात्मक पार्श्व-भूमि के रूप में उपस्थित है।

यह उपन्यास प्रोफ़ेसर तत्सत पांडेय के माध्यम से प्रगतिशील ओर प्रगतिरोधी शक्तियों के मुख्य सामाजिक अंतर्द्वंद्व को औपन्यासिक विन्यास में संगठित करने के लिए – 'गृह-जंजाल', 'प्रस्थान-पर्व' और 'देव-श्मशान' जैसे तीन मुख्य सर्गों में संयोजित है। इन मुख्य सर्गों के अंतर्गत उपन्यास में आकर्षक शीर्षक के कई उप-बंध भी हैं। 'गृह-जंजाल' में प्रोफ़ेसर तत्सत पांडेय के घरेलू जीवन में उनके रवैयों और उनकी विफलताओं को रेखांकित करते हुए सामाजिक संरचना की बुनियाद, अर्थात, पारिवार के स्तर पर वामपंथी विचारों के स्वीकार्य नहीं बन पाने का रचनात्मक उद्घाटन मुख्य है। 'प्रस्थान-पर्व' पारिवारिक स्तर पर विफलताओं की जटिलताओं के बोझ को स्मृतिपट पर लादे हुए समाज की ओर जाने का वृतांत है। 'देव-श्मशान' '(राम) जन्मभूमि' के श्मशान में बदल दिये जाने का उपाख्यान है। यह उपाख्यान उभरता है प्रोफ़ेसर तत्सत पांडेय के मनो-वृतांत के माध्यम से। प्रोफ़ेर तत्सत पांडेय बीमार नहीं हैं, बस थोड़ी-सी धुँधलाहट है। 'लेकिन वे एक ऐसे बूढ़े हैं जो किसी भी बात पर पछताने को तैयार नहीं हैं। वे दूसरों की व्याख्याओं पर कभी निर्भर नहीं रहे। उनका पूरा जीवन एक आदमी के जिद की नैतिक रिपोर्ट है'।[1] प्रोफ़ेसर पांडेय इस उपन्यास के मूल कथ्य के निमित्त हैं, 'क्योंकि अपने एक सच के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित किया। अब, जब उनके पाँव कब्र में लटके हैं, वे उसे छोड़कर क्या पाएँगे? उन्होंने खोया ही खोया। मार ही खाई। पिटते रहे हैं जीवन भर। हँसी के पात्र बने रहे। पागल, विक्षिप्त, आवारा, चरित्रहीन, कुंठित, घर-बिगाड़ू, ज़िद्दी, बेवकूफ़– क्या-क्या नहीं सुनना पड़ा उन्हें! लेकिन डिगे नहीं वो। क्यों नहीं डिगे? मान लो कि जीवन भर गलती ही की। इमर्जेन्सी में पार्टी ने समर्थन किया लेकिन वे जेल गए। जेल से लौटकर पार्टी से इस्तीफ़ा दिया। '77 में में इन्दिराजी चारों-ख़ाने चित्त गिरीं तो वे दिल्ली गए, उनसे सिर्फ यह कहने के लिए कि 'हार को बर्दाश्त करना सीखो। अख़बारों ने पूछा तो कहा कि उस परिवार से मेरे घरेलू रिश्ते हैं। फिर जगहँसाई हुई। इन अन्तर्विरोधों को समझना इतना आसान नहीं। यह पार्टी-लाइन नहीं है और पार्टी-लाइन के बाहर भी नहीं है'।[2]

'आख़िरी कलाम' का पहला ही वाक्य है, ''किताबें शक पैदा करती हैं' – यह विषय है।'[3] आधुनिकता का प्रारंभ भी इसी 'शक' से हुआ। जो किताब 'आस्था' और 'विश्वास' को अपना आधार बनाए और 'शक' के लिए जगह न छोड़े वह किताब अपने सारांश में आधुनिक नहीं हो सकता है। 'किताबें शक पैदा करती – यह 'आख़िरी कलाम' का पहला वाक्य ही नहीं है,

उसकी मूल रचनात्मक चेतना भी है। इसी मूल चेतना का रचनात्मक विन्यास पूरे उपन्यास में प्रतिफलित है। 'आस्था' और 'विश्वास' तुलसीदास की पूँजी और 'रामचरितमानस' का प्राण है। 'एक बड़ा कवि है और अपनी हस्ती और हैसियत से बखूबी परिचित है। उसे अपने ग्रन्थ और विचारों के लिए एक मूढ़ और अंधी आस्था तैयार करनी है। जाने-अनजाने वह यही कर बैठता है। बहुत ही सघन कवित्व है लेकिन विचारों की तानाशाही में जाकर खत्म होता है।... उसी अंधी आस्था का कमाल है यह.... जो आप देख रहे हैं – उसी वैचारिक तानाशाही का कमाल। जो अब जाकर उभरा है। जो कथा 1575 ई. में रची गई, उसका असर चार सौ वर्षों बाद उजागर हो रहा है। यह है गोस्वामीजी का घटाटोप। एक ऐसा उत्कृष्ट कविकर्म जो विचारों की इजारेदारी में बदल गया। शायद तुलसीदास को भी इसकी कल्पना नहीं रही होगी। लेकिन कोई भी कवि-कर्म अगर हिंसक धर्मग्रन्थ में परिणत हो जाए तो उसे आप क्या कहेंगे? रवींद्रनाथ के साथ तो ऐसा नहीं हुआ।'[4] यह एक बड़ा सवाल है कि रवींद्रनाथ के साथ ऐसा क्यों नहीं हुआ। नवजागरण की चेतना और रवींद्रनाथ के प्रति वामपंथी रवैये में तीव्रता से सुधार को ध्यान में रखा जाना चाहिए। तुलसीदास के मानस के बाहर यह कांड इसलिए भी घटित हुआ कि तुलसीदास के मानस के लिए समाज में सही जगह बनाने में हम पिछड़ गए। समाज बीच में होता है, तुलसीदास को लेकर हम हमेशा इस या उस अति पर पहुँचते रहे हैं। नागार्जुन ने कहा था, 'रामचरितमानस' हमारी जनता के लिए क्या नहीं है? सभी कुछ है! दकियानूसी का दस्तावेज है... नियतिवाद की नैया है... जातिवाद की जुगाली है। शामंतशाही की शहनाई है! ब्राह्मणवाद के लिए वातानुकूलित विश्रामागार... पौराणिकता का पूजा-मंडप... वह क्या नहीं है! सब कुछ है, बहुत कुछ है! रामचरितमानस की बदौलत ही उत्तर भारत की लोकचेतना सही तौर पर स्पंदित नहीं होती। 'रामचरितमानस' की महिमा ही जनसंघ के लिए सबसे बड़ा भरोसा होती है हिंदी भाषी प्रदेशों में।'[5] हिंदी भाषी प्रदेशों में वामपंथ अपने भरोसे का आधार क्यो नहीं बना या टिका पाया? यह एक बड़ा सवाल है, जिसके सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संदर्भों के संवेदनात्मक अंर्तद्वंद्व को प्रतिफलित करने की भरपूर गुंजाइश 'आख़िरी कलाम' में हो सकती थी। इस कठिन सवाल से बचने की कोशिश हमें बार-बार सांस्कृतिक गफलत में डालता है। यह सवाल कठिन है क्योंकि, 'घरबार छोड़कर फकीर हो जानेवालों की कमी न तुलसीदास के जमाने में थी और न आज के जमाने में है। लेकिन भारतवर्ष में व्यासदेव के बाद अगर कोई लोकप्रिय भक्त कवि हुआ तो वह सौभाग्य हमारे महाकवि संत तुलसीदास को ही मिला। ...। बेशक, हमारे इस 'सन्त' ने 'रामायण' के जरिए सदाचार का जो दरिया बहाया है, उसमें आज– इस गए-गुजरे जमाने में भी विशाल भारत की महान हिंदू-जाति अपनी अंदरूनी प्यास बुझाती चली जा रही है। और जब तक एक भी 'सच्चा भारतीय' कायम

रहेगा, तब तलक हमारा – हाँ, हमारा गौरव 'रामचरितमानस' और उसका निर्माता अमर रहेगा!'[6] 1934 तक 'महान हिंदू-जाति की अंदरूनी प्यास बुझानेवाली', 'सदाचार का दरिया बहानेवाली', 'सच्चे भारतीय' की सांस्कृतिक पूँजी 'रामायण', 1970 तक आते-आते सिर्फ 'जनसंघ के लिए सबसे बड़ा भरोसा' बनकर क्यों रह गई? हिंदी-प्रदेश में घटित इतने बड़े सांस्कृतिक विपर्यय को कहीं अधिक रचनात्मक सावधानी से उठाया जाना अपेक्षित हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सर्वात्मन के माध्यम से ही हो सकता था, लेकिन वह तो इस सफ़रनामे का एक सदस्य बनकर रह गया! '''अब यह विचार ही विचित्र है'– आचार्यजी ने अपना दायाँ हाथ हवा में नचाया– 'सचल ग्रामीण पुस्तकालय'– उन्होंने तिरछा होकर सविनय को देखा और हँसे– यह दु:स्वप्न के भीतर एक स्वप्न है। किताबों और जनता के बीच आखिर कौन है? कौन खड़ा है? भूख और गरीबी और पस्ती-बदहाली। अज्ञान ओर अशिक्षा। बेचारगी, बेचारगी। एक अंधी उदासीनता। लूटपाट-लूटपाट। और दमन, और दमन– प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष। किताबों और जनता के बीच कौन खड़ा है? – धर्मग्रंथ और तुलसीदास। तभी मैंने कहा– दु:स्वप्न के भीतर एक स्वप्न।' आचार्यजी ने पानी के लिए इशारा किया। सन्नाटा चारों ओर पैरों पर। 'इसे हटा दो। दु:स्वप्न से मुक्त हो तब... किताबें शक पैदा करेंगी।' उन्होंने कहा।... 'एक किताब तुम्हारे भीतर सदियों की जमी हुई काई को साफ़ करती है। वह तुम्हें चोट पहुँचाती है। वह तुमहारा बध करती है। वह तुम्हारे भीतर की हिंसा को पी लेती है। एक किताब तुम्हारी सारी ताकत को निचोड़ लेती है, तुम्हें नया जन्म देती है। तुम, जो बँधे हुए, हो तब मुक्त होते हो। तुम, जो कोलाहल से घिरे हुए हो, एक किताब तुम्हें सन्नाटे में ले जाती है। एक किताब तुम्हारे शत्रु पैदा करती है। एक किताब तुम्हारे प्रेम और तुम्हारी मैत्री को क्षार-क्षार करती है। एक किताब तुम्हारे जानने को निरर्थ कर देती है। एक किताब तुम्हें चुप करती है, एक मौत के दरवाज़े पर छोड़ आती है। एक किताब तुम्हें शताब्दियों तक अंधा बनाती है। किताबें यह सब करती हैं अत: किताबें शक पैदा करती हैं। किताबें हमारी अंतर्मेधा के समक्ष शक्ति-प्रदर्शन हैं, युद्धाभ्यास हैं जो अक्सर हमला बोल देती हैं।... जो किताबें तुम्हें जेहाद के लिए, धर्मयुद्ध के लिए उकसाए वह तुम्हारी दुश्मन है। जो किताब अपने को ज्ञान की अंतिम सीढ़ी कहे, जो परमतत्त्व की ओर इशारा करे वह किताब एक चुका हुआ विचार है। एक निर्णय है, असत का अंतरंग है, ढोंग का कवच है। जो किताब तुम्हारी जिज्ञासा का बध करे वह एक दु:स्वप्न है, जीवित मृत्यु है। इसी तरह किताबें शक पैदा करती हैं।... जब वे हमला बोलती हैं, जब बध करती हैं, जब तुम्हारी मैत्री को क्षार-क्षार करती हैं, जब तुम्हें चुप करती हैं, जब तुम्हें अंधा बनाती हैं।... अत: तैयार रहो–- एक वृद्ध और बंजर और अपाहिज और दैत्याकार किताब से लड़ने के लिए सदा तैयार रहो।... अपनी जीवित मृत्यु से बचो।... अपनी अंतर्मेधा को साधो।'

आचार्यजी ने दोनों हाथ हवा में ऊपर उठाए और प्रणाम की मुद्रा बनाई।”[7] यह सच है कि ‘पिछड़ी जातियों में पैदा होकर भी सौ किस्म की मजबूरियाँ झेलेनेवाले साठ प्रतिशत इन्सान तब तक सही अर्थों में ‘स्वतंत्र और स्वाभिमानी’ भारतीय नहीं होंगे, जब तक ‘रामचरितमानस’ सरीखे पौराणिक संविधान ग्रंथ की कृपा से प्रभु जातीय गुलामी का पट्टा उनके गले में झूलता रहेगा।’[8] यही तो दुष्चक्र है, गुलामी के इस पट्टे को उतारे बिना सही अर्थों में ‘स्वतंत्र और स्वाभिमानी’ हुआ नहीं जा सकता है एवं ‘स्वतंत्र और स्वाभिमानी’ भारतीय हुए बिना गुलामी का यह पट्टा उतर नहीं सकता है! सवाल है कि हिंदी-समाज में यह कैसे हो, क्योंकि, “समझौता... समझौता-– यही इधर चलन में है। क्योंकि सिद्धांत और विचार यहाँ अल्पमत में हैं... दिखावटी हैं। बाँभन होना, ठाकुर होना, बनिया-कायथ होना-– यह महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तो आस्थाएँ ही दूसरे प्रकार की हैं। और वे प्रबलतम हैं, संस्कारगत हैं।... मुझे तो कभी-कभी लगता है कॉमरेड, कि इससे भी आगे उनका संबंध हमारी ‘जेनिटिक्स’ से स्थापित हो गया है।”[9]

के रचनात्मक बरताव में एक बड़ा खतरा यह होता है कि थोड़ी-सी असवाधनी भी हमें वर्तमान से भटकाकर अतीतोन्मुख बना देती है। प्रगतिशील संस्कृति में, वर्तमान के विकास अपनी ऐतिहासिक उलझनों को सुलझाकर या फिर होशियारी से उसकी विषग्रंथियों काटकर, अपनी कार्यशील और प्रेरक अंतर्चेतना से उसे अलगाकर, आगे बढ़ने का विवेक-सम्मत सामाजिक हौसले का सतर्क आधार देते हैं। प्रगतिरोधी संस्कृति में ठीक इसके विपरीत घटता रहता है। प्रगतिरोधी संस्कृति में, वर्तमान के विकास अपनी ऐतिहासिक उलझनों को न सिर्फ और उलझाते चलते हैं, बल्कि उसकी विषग्रंथियों को अपनी पूँजी मानते हुए अपनी कार्यशील और प्रेरक अंतर्चेतना में बनाए रखकर विवेकहीन सामाजिक हौसले को तर्कातीत उन्माद में बदलते रहते हैं। किसी भी जीवंत संस्कृति के मूल विन्यास के केंद्र में ‘प्रगति’ तो होती ही है। कोई भी जीवंत संस्कृति प्रगतिशील या प्रगतिरोधी तो हो सकती है, लेकिन किसी भी हालत में वह प्रगतिनिरपेक्ष नहीं रह सकती है। भारतीय संस्कृति में बुढ़ापे का चाहे जितने भी लक्षण क्यों न हों, यह निश्चित रूप से एक जीवंत संस्कृति है। इसके मूल विन्यास के केंद्र में प्रगतिशील और प्रगतिरोधी शक्तियों का अंतर्द्वंद्व ही मुख्य सामाजिक अंतर्द्वंद्व है। इस मुख्य सामाजिक अंतर्द्वंद्व के बौद्धिक विमर्श के प्रतिकूल जाकर, इसके राजनीतिक फलितार्थ के संसदीय आशय जनतंत्र के ढाँचे में ही जनतंत्र की अंतर्वस्तु और इसकी अंतर्निहित भावनाओं को आहत और क्षरित करनेवाले भारतीय यथार्थ का विनिर्माण करते हैं। इसके चलते प्राणघातक अनुदारता को वैधता मिल जाती है। जनतंत्र के अनुदार होते जाने के संदर्भ में फरीद जकारिया कहते हैं, ‘भारतीय जनतंत्र के भीतर झाँकने पर जटिल और परेशान करनेवाले यथार्थ से सामना

होता है। हाल के दशकों में भारत अपने प्रशंसकों के मन में बनी छवि से बहुत कुछ बदल गया है। यह नहीं कि यह कम जनतांत्रिक हुआ है, बल्कि एक तरह से यह अधिक ही जनतांत्रिक हुआ है। लेकिन इस में सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, कानून के पालन और उदारता की कमी हुई है। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ–– जानतांत्रिकता और अनुदारता–– प्रत्यक्षत: संबंधित हैं।'[10] जनतंत्र के लिए लोगों का संगठित होना जरूरी है। लेकिन इधर संगठन के नाम पर जो गिरोही चरित्र उभरा है, वह क्या कम भयावह है! 'आख़िरी कलाम' उपन्यास का लेखक इस डर को समझता है और रचना के स्तर पर इसे सामाजिक संवेदना से जोड़ने का प्रयास करता है। दूधनाथ सिंह के शब्दों में, 'हमें इस बात का डर नहीं है कि लोग कितने बिखर जाएँगे, डर यह है कि लोग नितांत गलत कामों के लिए कितने बर्बर ढंग से संगठित हो जाएँगे। हमारे राजनीतिक जीवन की एक बहुत-बहुत भीतरी परिधि है, जहाँ 'सर्वानुमति का अवसरवाद' फल-फूल रहा है। वहाँ एक आधुनिक बर्बरता की चककरदार आहट है। ऊपर से सबकुछ शुद्ध-बुद्ध, परम पवित्र, कर्मकांडी, एकांतिक लेकिन सार्वजनिक, गहन लुभावन लेकिन उबकाई से भरा हुआ, ऑक्सीजनयुक्त लेकिन दमघोंटू, उत्तेजक लेकिन प्रशान्त––– सारे छल एक साथ। ऐसे ही संविधान-सम्मत जीवन पर यहाँ अनपेक्षित लेकिन वैध टिप्पणियाँ हैं। ऐसे ही जीवन की निर्वसन निशा का चीत्कार है। एक आदमी के ज़िद की आंतरिक रिपोर्ट है।

शुरूआत के तौर पर यह मेरी तरफ से बस इतना ही।

मैं इस सफ़रनामे का एक सदस्य हूँ – सर्वात्मन।'[11]

"'जनता गरीबी के बारे में नहीं, जाति के बारे में इंटरेस्टेड है कॉमरेड!' उसने यह भी कहा कि जातिवाद का नंगा नाच भी एक तरह की सांप्रदायिकता है। 'आप हँस रहे हैं, हँस लीजिए। हमें यह भी पता है कि आप लोग 'गहन विचार-विमर्श' के बाद इसे नकार देंगे और एक रणनीतिक निर्णय हम तक पहुँचा देंगे।'"[12] 'रणक्षेत्र' के जमीनी यथार्थ को महत्त्व दिये बिना 'रणबाँकुरों' तक रणनीतिक निर्णय पहुँचाने का ही नतीजा है कि "पहले जो कॉमरेड्स थे, उनमें से बहुत सारे अब अपनी जातियों के मुर्द्धन्य नेता हैं। और फिर जाति के नेतृत्व के नाम पर दुनिया भर के लुच्चे-लफंगे, विचारहीन, अवसरवादी विधानसभाओं और संसद में आ बैठे हैं। और जनता इसी से खुश है कि चलो, भला आदमी न हुआ तो क्या, अपनी जाति का तो है। दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है और चाहे सर्वहारा हों या उच्चकोटि के वैज्ञानिक–– सब उनके ज़रख़रीद गुलाम।"[13] इन परिस्थितियों में 'इधर अल्पमत का नवधनाढ्यवर्ग अपनी धौंसपट्टी से व्यापक जन-समुदाय को अपने काबू में कर लेने की कोशिश में लगा हुआ है। इसीलिए उल्लास को उन्माद में बदल दे रहा है। मंदिर-मस्जिद विवाद भी इसी उन्माद की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है। इस उन्माद की लपटें अब

बहुत ऊँचाई तक पहुँच चुकी है।'[14] बहुत ऊँचाई तक पहुँच चुकी उन्माद की लपटों को बहुत गहरे में जाकर ही समझा जा सकता है। यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि 'अखबारों में छपा था कि दो लाख लोगों ने यह लिखकर शायद प्रधानमंत्री को दिया कि बाबरी मस्जिद का ढाँचा उन्होंने गिराया है। परंतु क्या वे ऐसा भी लिखकर कभी प्रधानमंत्री को दे सकते हैं कि भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी का ढाँचा हम तोड़ेंगे?'[15] लेकिन उससे भी महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि ऐसा 'लिखकर देने' के लिए उन लाखों लोगों के तैयार होने में साहित्य की भूमिका का निर्वाह कैसे किया जाए? 'जाति के बारे में इंटरेस्टेड' लोगों का 'इंटरेस्ट', 'गरीबी' के बारे में कैसे जगाया जाए?

स्वतंत्रता के बाद भारतीय इतिहास में 1977 में देश में आपातकाल का लागू होना बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। कहना न होगा, आपातकाल के प्रति वामपंथी रवैये का हिंदी-समाज में उनकी विश्वसनीयता पर बहुत बड़ा और व्यापक असर पड़ा है। यही वह समय था जब गैर-काँग्रेसवाद एक वैकल्पिक राजनीतिक प्रस्ताव के रूप में बहुत तेजी से उभरा। काँग्रेस के द्वारा खाली की जा रही जगह को भरने के लिए प्रारंभ हुई राजनीतिक पहल करने में हिंदी-प्रदेश में वामपंथी शक्तियाँ पिछड़ गई। इस पिछड़ जाने के कारणों में भारतीय यथार्थ के वर्णवादी संदर्भ को ठीक से अपने राजनीतिक-सामाजिक एजेंडे में शामिल नहीं कर पाना भी प्रमुख है। ऐसी जटिल स्थिति में, दक्षिणपंथी राजनीति को बढ़त हासिल हुई। 'आख़िरी कलाम' इन जटिलताओं के संवेदनप्रवण धरातल का आधार तो ग्रहण करता है, लेकिन उसकी गहराई में उतरने की सफल कोशिश नहीं करता है। कथ्य है, पर कथा नहीं! समझ को संवेदना में बदलने के लिए 'कथ्य' को 'कथा' के माध्यम से ही रचना को हासिल करना होता है। कथातीत कथ्य और संवेदनातीत समझ का प्रभावशील साहित्यिक महत्त्व बन नहीं पाता है। प्रगतिशील और प्रगतिरोधी शक्तियों के अंतर्द्वंद्व को सामने लाने के अपने रचनात्मक संकल्प तो हैं लेकिन, कथ्य के कथातीत होने के कारण समझ के संवेदना में अंतरण का कार्य हो नहीं पाया है। प्रोफ़ेसर तत्सत पांडेय के ज़िद की आंतरिक रिपोर्ट बनकर रह जाने के रचनात्मक जोखिम से बचने पर यह उपन्यास अपने नवोन्मेष की चुनौती के सामने खड़े हिंदी समाज के लिए और भी प्रभावी संवेदनात्मक दस्तावेज बन सकता था। महत्त्वपूर्ण यह है कि 'आख़िरी कलाम' एक जीवंत समाज के ज्वलंत यथार्थ के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बरतते हुए भी अपने पाठकों को अतीतोन्मुखी नहीं बनाता है; 'आख़िरी कलाम' को बार-बार पढ़े जाने की जरूरत है।

संदर्भः

1 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: प्रस्थान-पर्व
2 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: प्रस्थान-पर्व
3 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: गृह-जंजाल

4 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: देव-श्मशान
5 नागार्जुन रचनावली-6: मानस चतु:शताब्दी समारोह: मुक्तधारा, 6 मई, 30 मई, 20 जून 1970
6 नागार्जुन रचनावली- 6: मृत्युंजय कवि तुलसीदास: दीपक, जनवरी 1934
7 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: देव-श्मशान
8 नागार्जुन रचनावली- 6: मानस चतु:शताब्दी समारोह: मुक्तधारा, 6 मई, 30 मई, 20 जून 1970
9 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: देव-श्मशान
10 THE FUTURE OF FREEDOM : ILLIBERAL DEMOCRACY AT HOME AND ABROAD- By Fareed Zakaria
11 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: मेरी तरफ़ से
12 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: देव-श्मशान
13 दूधनाथ सिंह: आख़िरी कलाम: देव-श्मशान
14 नागार्जुन रचनावली- 6: दीपावली : नवभारत टाइम्स, 3 नवंबर 1991
15 नागार्जुन रचनावली- 6: भूख, गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी : देशज समकालीन, 1993

विचार संदर्भः दूधनाथ सिंह का उपन्यास आख़िरी कलाम